नई "देवदास" फिल्म : स्वाँगों का जमघट

'देवदास' देख ली.

एक समय हिन्दी फिल्मों में एक-आध गानों का फिल्मांकन 'स्वप्न लोक' के सेटों पर होता था जैसा कि 'आवारा' और 'प्यासा' फिल्मों में. यहाँ पूरी की पूरी फिल्म ही 'स्वप्न लोक' के सेटों पर बनाई गई है. भव्यता और भड़कीलेपन की ऐसी सीमायें तोड़ी हैं कि एक अदना गाँव की हवेली लाल-किले सी दिखती है....

संवादों की प्रशंसा सुनी थी. उनका स्तर एक आम फिल्म से काफी ऊपर हैं. पर उनमें भी प्रायः ऐसी अति हुई है कि अधिकांश दृश्य नाटकीय लगते हैं – स्वाभाविकता से बहुत दूर. यों हर मामले में फिल्म अतिशयता से ग्रस्त है. लगता है पात्र अभिनय नहीं, स्वाँग कर रहे हों. उनके सुख दुख सब बनावटी लगे.

निर्माता ने लगता है शरतचन्द्र का उपन्यास पढ़ने का कष्ट नहीं किया. किसी से उसका पाँच-दस पंक्तियों में सार सुन लिया होगा. फिर उसमें जो चाहा, भरा. जोड़े गए कुछेक अंशों ने फिल्म को रोचक बनाया है पर अधिकांशों में छूँछीं ड्रामेबाजी है. उपन्यास और विमलराय की फिल्म में सबसे हृदयस्पर्शी है पारो और देवदास के बचपन का चित्रण. वह ही शेष कथा का आधार है. पर इस फिल्म में वे दृश्य नदारद हैं. बेहिसाब तड़क-भड़क का सामान जुटाने में व्यस्त निर्माताओं ने यदि कहानी की आत्मा को ही दरकिनार कर दिया तो आश्चर्य कैसा?

इस फिल्म को देखकर मुझे उन अनेक अंग्रेजी फिल्मों की याद आई जिनमें तकनीकी चमात्कारिक प्रभावों (special effects) पर जोर होता है, कहानी में मानव-जीवन का स्पंदन नहीं. ऐसी फिल्में लोकप्रिय हो भी जाँएं, उन्हें आस्कर जैसे कोई पुरुस्कार नहीं मिलते. यह चकाचौंध-डूबी, थोथी नौटंकी आस्कर पुरुस्कार के नामांकन लायक कदापि नहीं थी.

पुनश्चः - 'देवदास' उपन्यास को यदि हम इतिहास के पन्नों में रख छोड़ें तो अच्छा. 'मरीज़ी मोहब्बत' की ऐसी कथाओं में न यथार्थ है न आदर्श. देवदास के प्रेमरोग-ग्रस्त चरित्र में नाकारापन भी देखा जा सकता है. यह शरतचन्द्र की लेखनी का कमाल है कि उन्होंने अपने नायक की अकर्मण्यता को साहित्यिकता से ढाँप दिया.

- अजय कुलश्रेष्ठ
03/03/03